तात्पर्य

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपने जीवस्वरूप का पूर्ण ज्ञान इतना उत्तम है कि अविद्या-सागर में नित्य चल रहे जीवन-संघर्ष से मनुष्य का अविलम्ब उद्धार कर सकता है। इस संसार को अविद्या-सागर अथवा जलते हुए वन की उपमा दी जाती है। तैराक कितना भी दक्ष क्यों न हो, किन्तु सागर में जीवन के लिए घोर संघर्ष करना ही पड़ता है। जो साहसपूर्वक आगे बढ़कर सागर में डूबते हुए प्राणी को उबार ले, वह परम त्राता (उद्धारक) है। श्रीभगवान् से प्राप्त पूर्ण ज्ञान साक्षात् मुक्तिपथ है। कृष्णभावनारूपी तरणी अति सुगम है और साथ ही परम प्रभविष्णु (उदात्त) भी है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

यथा =जैसे; **एधांसि** =ईंधन को; **समिद्धः** =प्रज्वलित; **अग्निः** =अग्नि; **भस्मसात्** =भस्म; **कुरुते** =कर देती है; **अर्जुन** =हे अर्जुन; **ज्ञानाग्निः** =ज्ञान रूपी अग्नि; **सर्वकर्माणि** =प्राकृत कर्मों के सब बन्धनों को; **भस्मसात्** =भस्म; **कुरुते** =करती है; **तथा** =वैसे ही।

अनुवाद

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनों को जला डालती है।।३७।।

तात्पर्य

इस श्लोक में आत्मा, परमात्मा और उनके सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान को अग्नि की उपमा दी गई है। यह अग्नि अशुभ कर्मफल का ही दहन नहीं करती, वरन् शुभ कर्मफलों को भी भस्मसात् कर देती है। कर्मफल के प्रारब्ध, संचित, बीज, कूट आदि अनेक रूप हैं; किन्तु जीव के स्वरूप का ज्ञान इन सभी को जला डालता है। पूर्ण ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्मबन्धन भस्म हो जाते हैं। वेदों में कहा है— **उभे उभैवैषेते तरत्यमृतः साधवसाधूनी** अर्थात्, 'शुभ तथा अशुभ—दोनों ही प्रकार के कर्म-बन्धनों से ज्ञानी की मुक्ति हो जाती है।'

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

न =नहीं; **हि** =निस्सन्देह; **ज्ञानेन** =ज्ञान के; **सदृशम्** =समान; **पवित्रम्** =पावन; **इह** =इस संसार में; **विद्यते** =है; **तत्** =उसका; **स्वयम्** =अपने आप; **योग** =भक्ति के; **संसिद्धः** =सिद्ध होने पर; **कालेन** =यथासमय; **आत्मनि** =अन्तर में; **विन्दति** =आस्वादन करता है।

अनुवाद

इस संसार में ज्ञान के समान उदात्त (प्रभविष्णु) और पवित्र कुछ भी नहीं है। यह ज्ञान सम्पूर्ण योग का परिपक्व फल है। इसे प्राप्त मनुष्य यथासमय अपने आत्मस्वरूप का आस्वादन करता है।।३८।।